prFkk v/;k;

भरतनाट्यम् का इतिहास

1- HkjrukV;e dk ifjp; ,oa Øfed fodkl %&

¼i½ uR; dh fojkl r &

नृत्य कला कल–कल निनाद करती हुई मंदाकिनी है, जिसकी पुनीत धारा में सहस्र भाव, रस, ताल स्वतः तरंगित हैं। सदियों से प्रवाहमान सम्पूर्ण जनजीवन का सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम नृत्य कला रही है। नृत्य का मुख्य उद्देश्य लोक मनोरंजन है मनुष्य जब भी प्रसन्न होता है तब वह अभिव्यक्ति के लिये जो भाव–भंगिमा और अंग संचालन प्रदर्शित करता है, वही नृत्य है। जिस प्रकार उल्लास से नृत्य की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार नृत्य प्रस्तुति से देखने वाले को भी उल्लास की अनुभूति होती है। जहाँ एक ओर नृत्य उल्फुल्लता है, वहीं दूसरी ओर उत्फुल्लता का जनक भी है। इस प्रकार मन की प्रवृत्ति से ही शरीर को गति मिलती है, अर्थात् मन के हर्ष और आनन्द की सिद्धि सौन्दर्य की साधना से सम्भव है। नृत्य सौन्दर्य की साधना का दूसरा नाम है, अपने अंतनिर्हित आनन्द की अनुभूति के लिये रज और तम गुण को हटाकर सत्व गुण का विकास करना कला के द्वारा ही सम्भव है। जब सौन्दर्य सिद्ध होता है वह परिपक्व होता है, तब उसमें विभिन्न प्रकार के रस की उत्पत्ति होती है।

कला की साधना में 'रस' को प्राप्त करना एक अलौकिक आनन्द को प्राप्त करना है। नृत्य के सम्बन्ध में यह सर्वमान्य सत्य है कि रस नृत्य की आत्मा है। ताल, लय और अंग संचालन की गतिशीलता से दर्शकों को जो उद्दीपन का भाव प्राप्त होता है वह उन्हें परमानन्द अर्थात् नृत्य कला से ब्रह्मानन्द सहोदरानुभूति प्राप्त होती है। इसी उल्लास की अभिव्यक्ति से नृत्य, नाट्य और अभिनय आदि कलाओं का विकास हुआ ऐसी मान्यता है। नृत्य के दोनों स्वरूप शास्त्रीय अथवा लोक इन दोनों नृत्य से विविध प्रकार के रसानुभूति प्राप्त होती है। वास्तव में नृत्य की उत्पत्ति का एक कथन यह भी पूर्ण रूप से स्पष्ट होता है। सिन्धु घाटी सभ्यता के समयकाल में हड़प्पा तथा मोहनजोदाड़ो की खुदाई में मिली नृत्यरत मूर्तियाँ इस बात का मुख्य प्रमाण हैं, जो भारतीय कला, साहित्य, संगीत, नृत्य परम्परा के क्षेत्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता है।

सम्पूर्ण चराचर जगत् में विद्यमान मानव समुदाय के जीवन में कला को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है, जिसमें सुखद और मनोरम की अनुभूति प्राप्त होती है। मनुष्य अपने जीवन के प्रत्येक क्षण जन्म से लेकर मरणोपरान्त इस विधा को किसी न किसी माध्यम से सहारा लिया है। कला की उत्पत्ति के विषय में यह निःसन्देह कहना अत्यन्त कठिन होगा कि इसकी उत्पत्ति कब, किस प्रकार और कैसे हुई, परन्तु यह अवश्य प्रमाण प्राप्त होता है कि जैसे–जैसे मानव समुदाय का विकास होता गया, कला भी अपने आप विस्तृत होती गई एवं समय परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित होती गई। भारतीय परम्परा में कला संगीत, साहित्य का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रहा है एवं इसके विविध स्वरूप यत्र–तत्र प्राप्त होते हैं। ऐसी मान्यता

है कि भौतिक रूप से भारत के विभिन्न क्षेत्रों में निर्मित अत्यन्त प्राचीन मन्दिरों में अंकित मूर्तियाँ युक्त तथ्यों का प्रत्यक्ष प्रमाण स्वरूप हैं। मन्दिरों में देवी–देवताओं की विभिन्न मुद्राओं के साथ–साथ नृत्य की विभिन्न शैलियों को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इसमें धार्मिक, पौराणिक एवं सामाजिक जनजीवन में घटित घटनाओं का उल्लेख प्रत्यक्ष रूप में भी प्राप्त होता है।

भारतीय परम्परा में नृत्य का आरम्भ देवाधिदेव भगवान शंकर से माना जाता है, जिनका प्रमाण पाणिनीकृत व्याकरण में उल्लेख ''***नृत्यावसाने नटराजराजो ननादढक्कां नवपञ्चवारम्***'' श्लोक से प्राप्त होता है। इसी कारण भगवान शंकर को नटराज अथवा अर्धनारीश्वर नाम से संबोधित किया जाता है। भगवान शंकर को नटराज नृत्य से सम्बन्धित किया जाता है, जो विभिन्न करणों, अंगहारों, रेचकों आदि से सुसज्जित था, जिसका भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में स्पष्ट रूप में उल्लेख किया है।

नृत्य कला की उत्पत्ति के विषय में यह अवधारणा है कि यह ईश्वर में अगाध आस्था से आरम्भ हुई। इसका उद्देश्य मानव समुदाय को पवित्रता, सदाचार तथा सौन्दर्यबोधात्मक मूल्यों का महत्व समझाना था, जिससे मनुष्य एक कला के माध्यम से ईश्वर को अत्यन्त सहज रूप से प्राप्त कर सके। इस नृत्य में संगीत, नृत्य एवं नाट्य तीनों विधाओं का समावेश था, जो मनुष्य के अर्न्तआत्मा की भावनाओं को इस कला के माध्यम से सम्पूर्ण जनजीवन के समक्ष निःस्वार्थ भाव से प्रस्तुत कर सके।

भारतीय संस्कृति में नृत्य कला का सम्बन्ध अत्यन्त प्राचीन माना जाता है, जो विविध प्रकार से इसकी परम्परा अक्षुण्य रूप से चली आ रही है। नृत्य मानव समुदाय में घटित प्रत्येक परिस्थिति में अपनी मनोभावनाओं को व्यक्त करने का सूक्ष्म माध्यम है। सम्पूर्ण इतिहास के पन्नों में उल्लेखित नृत्य कला से सम्बन्धित जानकारी के अनुसार इसकी उद्‌गम का माध्यम मनुष्य के धरती पर अवतरित होने के साथ–साथ हुई है। नृत्य कला के मुख्य रूप से एक प्रायोगिक स्वरूप से सम्बन्ध रखता है, जिसमें वैदिक (शास्त्रीयता) एवं लौकिक (लोक से सम्बन्धित) सिद्धान्त अपनी परम्परा के नियमों का अनुसरण करते हुए पीढ़ी दर पीढ़ी संरक्षित होती आई है। यह विषय पूर्णरूपेण शास्त्रीयता से सम्बन्धित होने के कारण इस कला को हिन्दू धर्मावलम्बियों के सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद, पुराणादि में उल्लेख प्राप्त होते हुए विभिन्न कालखण्डों में इसकी स्थिति की जानकारी प्राप्त होती है, जिसको शास्त्रीयता की संज्ञा दी गई। भारतीय संस्कृति में समस्त चौंसठ कलाओं का मूल स्तम्भ के रूप में भरतमुनिकृत नाट्यशास्त्र माना गया है, जिसमें नृत्य कला की अवधारणा अथवा उद्‌गम, वैदिक परम्परा एवं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद से की गई है। भारतीय परम्परा में इन चारों वेदों के साथ–साथ महर्षि भरतमुनिकृत नाट्यशास्त्र को पंचम वेद के नाम से जाना जाता है, जिसमें नृत्य कला का उल्लेख नाट्यशास्त्र के आठवें अध्याय से लेकर 13वें अध्याय में विस्तृत उल्लेख किया गया है।

¼ii½ *ofnd ijEijk e uR; l lEcfU/kr fofo/k rRo %&*

समस्त भारतीय संस्कृति का मूल स्तम्भ वैदिक परम्परा से सम्बन्ध रखता है। किसी भी संस्कृति के मूल स्रोत का उद्गम इसकी प्राचीनतम धरोहर से होकर समस्त चराचर जगत् में निवास करने वाले प्राणियों के रग–रग में विद्यमान रहता है। भारतीय धर्म ग्रन्थ वेद को अपौरुषेय कहा गया है, जिसके रचनाकाल में विविध मतभेद होने के कारण कई हजार वर्ष पूर्व माना गया है, जिसका उल्लेख प्राचीनतम वैदिक संहिता ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है, ऋग्वेद में कला से सम्बन्धित विभिन्न रूप में उल्लेख प्राप्त है, जैसे वीणा को गात्र कहा गया है एवं वेणु को नाड़ी के नाम से उद्बोधित किया गया है, इसी प्रकार ऋग्वेद के मण्डुकोपिनषद् में . ''नृत्तूरिवासोर्णतु'' कहकर उल्लेख किया गया है और नर्तक के साथ–साथ आभूषणों का भी विस्तृत रूप से उल्लेख किया गया है। इस ग्रन्थ में अत्यन्त बृहद यज्ञ की प्रक्रिया के साथ–साथ विविध उदाहरणों के साथ–साथ विश्लेषित किया गया है। ऋग्वेद के पश्चात् क्रमशः यजुर्वेद का स्थान प्राप्त होता है, जिसमें भारतीय वैदिक परम्परा के मूर्धन्य विद्वान् पं0 रामजी शर्मा द्वारा लिखित यजुर्वेद संहिता के तीसवें अध्याय के बीसवें (20) मंत्र के तृतीय पद में लिखा है कि –

''वीणावादंपाणि घ्रन्तुणावध्यन्तान्नृतायानन्दाय तलवम्।'' [1]

[1] शू0य0 संहिता, अध्याय 30, मंत्र सं0 20

ऐसा कहकर वाद्य वादन के साथ–साथ नृत्य का उल्लेख स्पष्ट रूप से किया गया है, जिसका सम्बन्ध नृत्य के साथ–साथ वाद्यों के संगत से सम्बन्धित माना गया है।

वैदिक परम्परा के अनुसार क्रमशः यजुर्वेद के अनन्तर सामवेद रखा गया है, जिसमें सामगान के साथ–साथ ऋचाओं का गान भी किया जाता है। शास्त्रीय संगीत का सम्बन्ध सामगान से किया गया है और गायन का उद्‌भव भी सामगान से सम्बन्धित है। सामवेद में गीत–संगीत होने के कारण महाभरत में भगवान श्रीकृष्ण ने ^***वेदानां सामवेदोस्मि**** ऐसा कह कर अपने आपको तुलना किया है। समस्त वेदों में सर्वश्रेष्ठ सामवेद है क्योंकि उसमें संगीत है और वह मैं हूँ। संगीत में गायन, वादन एवं नृत्य परस्पर एक–दूसरे के पूरक हैं इसलिए जहाँ गायन है, वहाँ अवश्य रूप से वादन और नृत्य होना स्वाभाविक है। चूंकि सामगान में हस्तमुद्रा द्वारा स्वर को दर्शाया जाता है और हस्तमुद्रा का सम्बन्ध नृत्य से होने के कारण सामवेद में नृत्य के तत्व भी विविध रूप में प्राप्त होते हैं।

भारतीय संस्कृति के मूल स्रोत वैदिक परम्परा के अनुसार क्रमशः अथर्ववेद को चतुर्थ स्थान में रखा गया है। इस ग्रन्थ में संगीत कला से सम्बन्धित विभिन्न वाद्ययन्त्र जैसे दुन्दुभि इत्यादि का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसमें वाद्य यन्त्रों का उल्लेख है उसमें अवश्य गायन एवं नृत्य का उल्लेख किया गया होगा ऐसा विद्वानों का मानना है। अथर्ववेद का पृथ्वी .सूक्त में ^*;L;k xk;fUr uR;fUr*** कहकर गायन और नृत्य का स्पष्ट रूप से उल्लेख मिलता है। इस सूक्त से यह प्रमाणित होता है कि इस ग्रन्थ में भी

प्रचुर मात्रा में नृत्य का उल्लेख प्राप्त होता है। इस प्रकार वैदिक परम्परा के पश्चात् समस्त पुराणों में भी नृत्य के सम्बन्ध में भिन्न–भिन्न प्रकार के उल्लेख प्राप्त होता है, परन्तु इस कला के मुख्य अवयवों एवं इसके सम्पूर्ण प्रयोग, प्रदर्शन, नियम एवं अन्य वेदान्त की विस्तृत जानकारी हमें आचार्य भरतमुनिकृत नाट्यशास्त्र से प्राप्त होती है, जिसमें समस्त 64 कलाओं को एकत्रित करके उसका प्रयोग विधान सम्पूर्ण रूप में विवेचन किया गया है। शिव पुराण में नृत्य कला के सम्बन्ध में शिव आराधना के अन्तर्गत गीत, वाद्य एवं नृत्य आदि को प्रस्तुत किया जाता था, जो कलान्तर में एक महत्वपूर्ण उत्सव के रूप में भी मनाया जाने लगा। नाट्यशास्त्र के अनुसार नाट्य के अन्तर्गत नृत्य का प्रयोग शैव परम्परा की देन है, जिसका सम्बन्ध ब्रह्मा के निर्देशन में त्रिपुरदाह नामक 'नाट्य' का प्रयोग करके निर्माण किया गया था। शिव पुराण, स्कन्दपुराण तथा पद्मपुराण में शैव परम्परा के अन्तर्गत संगीत की महत्ता प्रतिपादित की गयी थी। शैव वाङ्मय में शिव को ताण्डव और शक्ति को लास्य का प्रवर्तक माना गया है, जो दक्षिण भारत के प्रमुख मन्दिर चिदम्बरम् में स्थापित है।[2] रामायण काल में नृत्य के साथ–साथ गायन, वादन की विविध प्रकार से चर्चा की गयी है।

xhr| u`R;| p ok|| p y{Hk ek i`kI; e|fFkyhA[3]

इस श्लोक से यह स्पष्ट होता है कि रामायणकाल में गीत (गायन), वाद्य एवं नृत्य का उल्लेख प्राप्त होता है। यह सर्वसम्मत है कि लव–कुश का गायन रामायण काल में अत्यन्त प्रचलित था, जो दोनों भाई मिलकर

---

[2] भरतनाट्यम् भाग 1, पृ0सं0 45

[3] वाल्मीकि रामायण, सुन्दरकाण्ड, 20/10/91

साथ में गाते थे। इस युग की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि समस्त कार्य पवित्रता से सम्बन्धित था एवं जो भी संगीत, नृत्य होता था वह धार्मिक परम्परा पर आश्रित होता था। रामायणकाल के पश्चात् महाभारतकाल में सर्वप्रथम भगवान श्रीकृष्ण जी की बाँसुरी एवं समस्त गोपियों के संग रासलीला आदि का स्पष्ट रूप से उल्लेख प्राप्त होता है, इसमें एक कथन यह भी उल्लेखित होता है कि अज्ञातवास के दौरान अर्जुन द्वारा बृहन्नला के रूप में राजा विराट की पुत्री उत्तरा को नृत्य की शिक्षा दी गयी थी, जिसकी चर्चा विभिन्न विद्वानों ने अपने ग्रन्थ में की है। इसके पश्चात् कौटिल्य के अर्थशास्त्र, पाणिनी के अष्टाध्याय, वात्सयायन के कामसूत्र एवं महर्षि भरतकृत समस्त कलाओं का मूल स्तम्भ नाट्यशास्त्र में पर्याप्तरूप में गीत, संगीत एवं नृत्य का विस्तृत रूप में उल्लेख किया गया है।

नृत्य कला का पूर्णरूप से संकेत ई0पू0 पहली, दूसरी शताब्दी के नाट्यशास्त्र में प्राप्त होता है, जिसमें महर्षि भरतमुनि ने भगवान शिव को नृत्य का अधिष्ठाता के रूप में स्थापित किया है। इसके अतिरिक्त कालिदास द्वारा रचित अभिज्ञानशाकुन्तलम् में और मेघदूतम् नामक नाट्यरचनाओं में नृत्य कला को विशेष रूप में स्थान प्राप्त है। दसवीं शताब्दी में प्रकाशित आचार्य नन्दिकेश्वर कृत अभिनयदर्पण नामक ग्रन्थ में नृत्य का विशेष रूप में उल्लेख किया गया है, जो अभिनय से भी सम्बन्धित रखता है, तत्पश्चात् 13वीं शताब्दी में आचार्य सारंगदेव द्वारा रचित भारतीय संगीत का मुख्य ग्रन्थ संगीतरत्नाकर में नृत्य से सम्बन्धित नर्तन अध्याय के नाम से रखा गया है, जिसमें आचार्य भरत एवं नन्दिकेश्वर के द्वारा उल्लेख किया गया विविध भेदों की अत्यन्त गहराईयों तक चर्चा की गयी है। इनके

साथ–साथ अन्य अनेकों विद्वानों ने संगीत कला के क्षेत्र में नाट्यशास्त्र के पश्चात् संगीतरत्नाकर ग्रन्थ को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, इस प्रकार भारतीय नृत्य कला को प्राचीन वैदिक काल से लेकर मध्यकाल तक के समयावधि में रचित विभिन्न ग्रन्थों को विशेष रूप से स्थान प्राप्त है। यद्यपि वर्तमान में भारतीय शास्त्रीय नृत्य में नाट्यशास्त्र को ही विशेष रूप से स्थान प्राप्त है, तथापि अन्य ग्रन्थों का सरल रूप से अनुसरण करने की परम्परा सामान्य रूप से दृष्टिगोचर होती है।

¼iii½ HkjrukV;e~ uR;%&

विश्व प्रसिद्ध दक्षिण भारतीय नृत्य शैली में से अत्यन्त प्राचीन भरतनाट्यम् नृत्य शैली लगभग 2000 वर्ष पूर्व मानी जाती है जिसकी उत्पत्ति दक्षिण भारत के तमिलनाडु राज्य से मानी जाती है। यह भारतवर्ष का प्राचीनतम् परम्परागत शास्त्रगत नृत्य शैली के रूप में माना जाता है। दक्षिण भारतीय मन्दिरों में अंकित विभिन्न मुद्राओं से यह प्रतीत होता है कि भरतनाट्यम् नृत्य का जीवन्त रूप भगवत् आराधना के लिए मात्र था। इस क्षेत्र के नाट्य परम्पराओं में एवं शैव मन्दिरों में शिव आराधना हेतु नृत्य संगीत का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान था। वस्तुतः इसी परम्परा को समस्त मन्दिरों में प्रयोग किया जाने लगा। यह नृत्य जितना शास्त्रसम्मत है, उतना अन्य कोई नृत्य नहीं है। यह नृत्य भरतकृत नाट्यशास्त्र में उल्लेखित विभिन्न नृत्य नियमों के सर्वाधिक अनुरूप है। प्रारम्भ में इस नृत्य को स्त्रियों द्वारा मन्दिरों में भगवत् आराधना अथवा भगवान की प्रार्थना करने के लिए किया जाता था जिसमें केवल नृत्यांगना एवं भगवत्मूर्ति विद्यमान रहती थी।

उस काल में इन नृत्यांगनाओं को देवदासी (ईश्वर की दासी) के नाम की संज्ञा दी गयी थी। वस्तुतः यह नृत्य इन देवदासियों के द्वारा प्रस्तुत होने के कारण आरम्भ में दासीअट्टम् कहा गया, त्तपश्चात् सादीरअट्टम् की संज्ञा दी गई। यह नृत्य एक समयकाल में अत्यन्त विषम परिस्थिति को प्राप्त हुआ, तत्पश्चात् जब इस शैली को पुनः साधारण जनजीवन में लोकप्रियता हासिल होने लगी तब विभिन्न विद्वानों द्वारा इसका नवीन नामकरण भरतनाट्यम् नृत्य शैली के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

¼iv½ HkjrukV;e~ 'kCn dh ifjHkk"kk %&

भरतनाट्यम् मुख्य रूप से 'भरत' एवं 'नाट्यम्' दो शब्दों के संयोजन से बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ –

भ – भाव

र – राग

त – ताल अथवा लय माना गया है। साथ ही नाट्यम् का अर्थ नाट्य, नाटक, नृत्य आदि से सम्बन्धित रखता है, जो कि भरतकृत नाट्यशास्त्र में गायन, वादन एवं नृत्य के सम्बन्ध में अत्यन्त विस्तारपूर्वक उल्लेखित किया गया है।[4] यह विषय अत्यन्त विस्तृत है इसलिए भरतनाट्यम् नृत्य शैली के पूर्व अपने समय परिवर्तन के साथ–साथ अपना स्वरूप एवं नृत्य शैली की शास्त्रीयता को सवंर्धित करते हुए यहाँ तक आई इस पर संक्षिप्त में प्रकाश डालने की कोशिश की गई है।

[4] डॉ0 शंकरदत्त ओझा, संस्कृति की मन्दाकिनी, पृ0स0 172–173

¼v½ *nonkl h iFkk@ijEijk %&*

भारतीय संस्कृति में नृत्य शैली एवं सामाजिक सभ्यता किसी भी परिस्थिति में एक–दूसरे के पूरक रहे हैं। सामाजिक सभ्यता अथवा संस्कृति जिस प्रकार नियमों के अनुसार होंगे कला की शैली, भाव एवं परम्परा भी उसी प्रकार के स्वरूप में ढल जाती है, जिसको सर्वसम्मत सत्य माना गया है। पूर्णतः शास्त्रीय परम्परा एवं नियमों से सुसज्जित एवं भारतीय कला जगत् में प्रसिद्ध भरतनाट्यम् नृत्य शैली का इतिहास एवं परम्परा की बात की जाए तो यह सर्वप्रथम देवदासी प्रथा से आरम्भ होती है, जिसका उल्लेख प्रायः सभी इतिहासकार एवं कलापर्यवेक्षकों ने अपने विद्वता के अनुसार चर्चा की है। भारत में देवदासी प्रथा का आरम्भ कब से हुआ इस सम्बन्ध में कोई ऐतिहासिक दस्तावेज प्राप्त नहीं होते हैं, परन्तु देवदासी प्रथा का सर्वप्रथम उल्लेख पुराणों से प्राप्त होता है। हिन्दू धर्मावलम्बियों के धार्मिक ग्रन्थ 18 पुराणों में से एक पद्मपुराण में कुमारियों को दानस्वरूप मन्दिरों में देने की बात का स्पष्ट रूप से उल्लेख प्राप्त है। सम्भवतः यह देवदासी प्रथा रही होगी। इस विषय पर चर्चा करने से पूर्व यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि देवदासी होती कौन थी? देवदासी बनाने की प्रथा क्यों आरम्भ हुई एवं इसके मुख्य कारण क्या रहे होंगे? सर्वप्रथम देवदासी प्रथा दक्षिण भारत से आरम्भ हुआ क्योंकि उस समय परिवार बड़ा हुआ करता था। मुख्यतः हिन्दू धर्म में आज भी यह परम्परा चली आ रही है कि पुत्र के बिना पितृदेवों को स्वर्ग में स्थान प्राप्त नहीं होता, ठीक इसी कारण परिवार पुत्र प्राप्ति की इच्छा से अधिक संतान होना स्वाभाविक होता था। हिन्दू धर्म में दान–पुण्य का अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान रहा है। वस्तुतः इसी

कारण उन परिवारों ने अपनी मन्नत को पूर्ण करने एवं भविष्य में अपनी आर्थिक स्थिति को और भी बेहतर बनाने की इच्छा से अपने सन्तानों में से एक (विशेषतः पुत्री को) देवालय में दान किया करते थे। इतिहासकारों का यह भी मानना है कि उस समय ऐसी कई परिवार भी हुआ करते थे, जिसके संतानें तो बहुत हैं परन्तु आर्थिक स्थिति से अत्यन्त निम्न हैं। इस नाजुक स्थिति में विशेष रूप से पुत्री का लालन–पोषण एवं भविष्य में शादी–विवाह आदि विभिन्न कर्तव्यों का विचार करते हुए भय के कारण यह कार्य करने पर विवश हुआ करते थे और अपनी कन्याओं को मन्दिरों में दान किया करते थे। ऐसी देवालयों में दान की हुई कन्याओं को देवदासी 'ईश्वर की दासी' कहा जाता था। दूसरे शब्दों में देवदासी हिन्दू धर्म में ऐसी स्त्रियों को कहा जाता था जिसका विवाह मन्दिर अथवा धार्मिक प्रतिष्ठान में किया गया है, जो भगवान के प्रति पूर्णरूपेण समर्पित होती थी एवं भगवान को ही अपने स्वामी (पति) के रूप में मानती थी उन्हें देवदासी कहा जाता था। चूंकि भारतीय परम्परा में जातीय भेदभाव के कारण देवदासियों के कार्य में भी भिन्न–भिन्न रूप से कार्यभार दिया जाता था। उच्च कोटि की देवदासी मुख्य रूप से भगवत् आराधना, भगवत् पूजन, भगवान के समक्ष नृत्य प्रस्तुत करना आदि कार्य रहता था। मध्यम वर्ग के देवदासियाँ भगवान के गर्भगृह को सफाई करना, उनके वस्त्र आदि की सफाई करना एवं पूजन कार्य में प्रयोग किया गया बर्तन आदि का रख–रखाव इत्यादि करना था। इसी प्रकार अधम वर्ग की देवदासियों का मुख्य कार्य मन्दिर के प्रांगण का देख–रेख करना, भगवत् पूजन सामग्री इत्यादि का व्यवस्थापन करना एवं मुख्य दासियों की सेवा करना आदि

कार्य करती थी। उस काल की देवदासियां भगवत् आराधना के साथ–साथ उसमें समस्त शास्त्रों का ज्ञान रखती थीं। इसी कारण उनका समाज में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रहता था। साधारण जन समुदाय इनको भगवान एवं समाज में मध्यवर्ती के रूप में उनका महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। इस परम्परा के अनुसार देवदासी के रूप में देवता को समर्पित कन्या रजस्वला न हुई हो उनको लौकिक रूप में विवाह की अनुमति नहीं थी। देवदासी को 'अखण्ड सौभाग्यवती' अथवा 'नृत्य सुमंगली' भी कहा जाता था एवं इस प्रथा को देवदासी समर्पण उत्सव के नाम से भी जाना जाता था। देवदासियों द्वारा समस्त धर्म शास्त्र, पुराणादि एवं नृत्य कला का अध्ययन करने के कारण समाज में इनका उच्च कोटि का स्थान प्राप्त था। अपनी अद्भुत कला के माध्यम से भगवान को सदा प्रसन्न रखने में सक्षम रहती थी। वस्तुतः इसी कारण देवदासियों द्वारा प्रस्तुत होने के कारण यह नृत्य दासीअट्टम अथवा सादिरअटटम् नाम से प्रसिद्ध हुआ। प्रारम्भ में इनकी कला केवल भक्ति रस से सम्बन्ध रखती थी, जैसे देवताओं के पूजन के समय आरती के समय, शयन के समय एवं प्रातःकाल उनको जगाने के समय विभिन्न प्रकार के भक्ति रस में संयुक्त कीर्तन, स्तुति एवं नृत्य कला आदि प्रस्तुत किया करती थी।

वस्तुतः यह नृत्य केवल भगवान के समक्ष प्रस्तुत अथवा भगवत् आराधना के लिए मात्र होने के कारण इस नृत्य का नाम दासीअट्टम् अथवा सदिरअट्टम् रखा गया, ऐसा मानना है देवदासी के सम्बन्ध में विद्वानों ने भिन्न–भिन्न प्रकार से अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है। देवदासी के सम्बन्ध में लक्ष्मीनारायण गर्ग का मत इस प्रकार है–

दक्षिण भारतीय परम्परा में विभिन्न परिवार अपनी पुत्रियों को सदैव के लिए मन्दिर में भगवान को समर्पित करने का प्रचलन था। इस कार्य के लिए वह परिवार अपने आपको पुण्य का कार्य समझता था। यही कन्याएँ देवदासी कहलायी जो परम्परागत शैली से नृत्य की शिक्षा प्राप्त करके भगवत् आराधना में अपनी प्रस्तुति करती थीं। डॉ0 माधवी सिंह के अनुसार–''दक्षिण भारत में विभिन्न राजाओं द्वारा राज्याधीन जैसे–चोल राजाओं का समयकाल 6वीं से 13वीं शताब्दी के अन्तर्गत विभिन्न मन्दिर स्थापित हुए, जिनमें विविध प्रकार के नृत्य करती स्त्रियों के मूर्तियाँ स्थापित की गई। वस्तुतः देवदासी नृत्य पवित्र धार्मिक रूप से होता था एवं उन्हीं को देवदासी का नाम करण दिया गया था।[5]

प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान ने 7वीं शताब्दी के आसपास अपनी भारत यात्रा के दौरान मुल्तान के सूर्य मन्दिर में देवदासियों का नृत्य देखा था, देवदासियों द्वारा भक्तिपूर्वक किया जाने वाला वह नृत्य में पूर्णतय भक्तिरस का समागम स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता था। प्रसिद्ध लेखिका अंजली सिन्हा के अनुसार देवदासी प्रथा भक्ति युग के साथ–साथ किंचित् विसंगतियाँ भी कालान्तर में देखने को मिला, परन्तु इसका एक उज्जवल पक्ष यह रहा कि इस प्रथा के कारण भारतीय संस्कृति एवं धार्मिक क्षेत्र में विविध कलाओं की साधनाओं का मुख्य केन्द्र थे, वे सदियों तक इस प्रथा के कारण संरक्षित एवं संवर्द्धित होते रहे। देवदासी प्रथा के कारण ही विभिन्न कलाओं में धार्मिक एवं आध्यात्मिक का प्रभाव अनेक समय तक

[5] भारतीय संस्कृति में कथक परम्परा–डॉ0 माधवी सिंह, पृ0सं0 178

स्थिर रूप में रही। ऐतिहासिक विवेचन के माध्यम से कहा जाए तो लगभग 500 ई0पू0 से 500 ई0 पश्चात् के मध्य लिखे गए तमिल ग्रन्थ शिलप्पदिकारम् में भी देवदासी प्रथा एवं उनके नृत्य कला में किया गया योगदान स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है। भगवत् आराधना में भक्तिपूर्वक नृत्य करने वाली देवदासियों का सम्बन्ध विभिन्न शिक्षण–प्रशिक्षण केन्द्रों से भी जुड़ा हुआ है, जहाँ पर इनको शास्त्रीय विधि–विधान के अनुसार नृत्य कला की शिक्षा प्रदान की जाती थी। इनका देवदासियों के रूप में प्रशिक्षित करने वाले गुरुओं, प्रशिक्षक एवं संगतकार के रूप में नटुवनार अथवा नटुवन कहे जाते थे, जिनका यह कार्य पूर्ण रूप से व्यवसाय के रूप में भी माना जाता था। यह नटुवनार देवदासियों के प्रस्तुति के रूप में अपना योगदान दिया करते थे। नवीन देवदासियाँ इन्हीं नटुवनार के अथक प्रयास के कारण ही नृत्य प्रस्तुति में पूर्ण रूप से पारंगत हो पाती थी।[6]

सम्पूर्ण भारतवर्ष में प्रचलित देवदासी प्रथा के अन्तर्गत देवदासियों को भिन्न–भिन्न नामों से सम्बोधित किया जाता था। इनको तमिलनाडु में देवदासी कहा जाता था, आन्ध्र प्रदेश में जोगिनी, कर्नाटक में यलम्मा, उड़ीसा में महारी एवं महाराष्ट्र में देवदासियों को मुरली आदि कहा जाता था।

देवदासी प्रथा के ऐतिहासिक एवं पारम्परिक उल्लेख के अनुसार देवदासी व राजदासी परम्परा के विकास में 9वीं से दशवीं शताब्दी के मध्य

---

[6] Indian Classical Dances-Shovana Narayan, Pg. 74-75, Surbhi Publication Gurgaon, First Edition 2005

में अत्यन्त प्रचलित रहा, जिसमें तंजौर के चोल राजा के मन्दिरों में लगभग 400 देवदासियों की नियुक्ति की गई थी, इसका उल्लेख मन्दिर में प्राप्त पाण्डुलिपि में स्पष्ट रूप से किया गया है, उस काल में देवदासी प्रथा का इतना महत्वपूर्ण स्थान रहा कि जिस राजा के राज–दरबार में अधिक से अधिक देवदासियाँ हैं, उनका सम्मान अन्य राजाओं की तुलना में अत्यधिक रहता था एवं एक राज्य के राज–परिवार का विवाह सम्बन्ध अन्य राजा के राज–दरबार में जब होता था उस समय कन्या पक्ष के परिवार द्वारा अधिक से अधिक देवदासियां उपहार स्वरूप प्रदान करने की प्रथा थी, जिसमें दक्षिण भारतीय राज–परिवार से वैवाहिक सम्बन्ध मराठा राजाओं के साथ स्थापित हुई, जिसमें विवाहित राजकुमारियों के साथ अनेक देवदासी राजदासियों को उपहारस्वरूप प्रदान की गई थी जिसके कारण देवदासी प्रथा केवल दक्षिण भारत में न रहकर भारत के अन्य राजाओं में भी प्रचलित हुई, इसी प्रकार गुजरात के बड़ौदा राज–परिवारों में दक्षिण भारत के तंजौर राजपरिवार के कई राजकुमारियों का विवाह हुआ एवं उनके साथ उपहारस्वरूप प्रदान की गई देवदासियों के माध्यम से वहाँ सदिरअट्टम् के नाम से नृत्य प्रसिद्ध हुआ।[7]

सम्पूर्ण विश्व में यत्र–तत्र विभक्ति होकर स्थापित हुई सम्पूर्ण मानव समुदाय का धार्मिक, सामाजिक, ऐतिहासिक एवं अन्य क्रियाकलाप का ऐतिहासिक पक्ष की ओर दृष्टिपात किया जाये तो सदैव एक जैसा नहीं रहा है। इस परिवर्तनशील समाज में प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक

[7] कला सौरभ, चर्तुदश अंक, खैरागढ़ 2012, पृ0सं0 98–99

का परिवर्तित समयकाल का उदाहरण देखा जाए तो सत्यगुण, त्रेतायुग, द्वापरयुग एवं वर्तमान में कलियुग इन चर्तुयुगों का पूर्णरूपेण विवेचन हमारे प्राचीन धर्म ग्रन्थ वेद, पुराणादि में स्पष्ट रूप से उल्लेख प्राप्त होता है, जिस प्रकार सत्यगुण (देवयुग) से आरम्भ हुआ, मानव दृष्टि जो कि सत्यता पर अंगित था। आज कलियुग के प्रभाव से सम्पूर्ण मानव समाज की गतिविधि परिवर्तित होकर एक कुण्ठित समाज बनकर रह गई, ठीक उसी प्रकार साहित्य, कला, संगीत एवं नृत्य का इतिहास भी परिवर्तनशील रहा है, जहाँ भगवान को समर्पित अपने आपको जीवनपर्यन्त पत्नी के रूप में समर्पित देवदासी प्रथा कलान्तर में इस प्रकार परिवर्तित हुआ जिसका हम कल्पना तक नहीं कर सकते। भगवत् आराधना में समर्पित समस्त भक्ति रस में तन्मय एवं समस्त शास्त्रीयता के साथ नृत्यकला में परिपूर्ण देवदासी परम्परा जैसे–जैसे समय आगे बढ़ता गया, इन विशुद्ध देवदासी प्रथा मन्दिर से राजगृह अथवा राजघरानों में परिवर्तित होने लगी जिस प्रकार यह नृत्य भगवान को प्रसन्न करने के लिए पूर्ण रूप से भक्ति एवं कीर्तनादि में तन्मयता रहती थी। उसका स्वरूप परिवर्तित होकर देवदासियाँ, राजा–महाराजाओं को प्रसन्न करने के लिए नृत्य करने पर प्रेरित होने लगी। अपनी इच्छा ना होते हुए भी इस कार्य में अपने आपको समर्पित करती गई। यह नृत्य भक्तिपूर्ण से विपरीत आनन्दपूर्ण होने लगा, भगवत् प्रशंसा से विपरीत राजाओं का गुणगान होने लगा। गीतों की भाषा प्रमुख रूप से संस्कृत, साहित्य, तेलगु, तमिल आदि था परन्तु कालान्तर में अन्य साधारण बोलचाल के भाषाओं में विविध प्रकार के गीत लिखे जाने लगे। ये देवदासियों का आरम्भ तो ईश्वर की पत्नियों के रूप में हुआ, परन्तु

शनैः–शनैः राजादि व्यासनों के कारण पुरुषों के साथ समागम होने लगी एवं इसके साथ अपनी वंश वृद्धि होने लगी।

भारत के विभिन्न राज्यों के राजाओं ने कई देवदासियों को अपने पत्नी के रूप में भी स्वीकार करने का उल्लेख प्राप्त होता है, जैसे–जैसे देवदासियाँ राजा–महाराजाओं के निकटतम आने लगी उनको अधिक से अधिक स्वतंत्रता मिलती गई एवं यही स्वतंत्रता इनका एवं इनमें विद्यमान विभिन्न कला संगीत, नृत्य आदि अपने पतन की ओर अग्रसर होने लगी। कालान्तर में कुछ देवदासियों को भिन्न–भिन्न राजा–महाराजा अत्यधिक शोषण करने लगे एवं कुछ देवदासियाँ अपने नृत्यकला से अधिक भौतिक सुखों की प्राप्ति को महत्वता देने लगी। शनैः–शनैः मौर्य युग में ऐसी बहुत सी स्त्रियाँ, जो विवाह द्वारा पारिवारिक जीवन न बिताकर भिन्न–भिन्न राज–दरबारों में स्वतंत्र रूप से जीवन–यापन करने लगी। इन स्त्रियों को मुख्यतः तीन वर्गों में विभाजित किया गया है। राजकीय सेवा में कार्य करने वाली स्त्रियों को गणिका कहा जाता था, राष्ट्रीय सेवा में कार्य करने वाली स्त्रियों को रूपा जीवा कहा जाता था एवं जो स्वतंत्र रूप से अपना जीवन–यापन करती थीं उनको गुप्तचर के रूप से भी जाना जाता था, जिसका उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलता है। उस समय राजाओं के राज्यपाल अत्यन्त विशाल हुआ करते थे एवं उसमें हजारों स्त्री–पुरुष निवास करते थे, जो राजा–महाराजाओं एवं उनके परिवारों के विविध प्रकार की आवश्यकताओं को पूर्ण किया करती थी एवं राजा के मनोरंजनस्वरूप विभिन्न गणिकाएँ अपने–अपने क्षमता के अनुसार राजसेवा किया करती थी। राजदरबार के नियम के अनुसार राज पदाधिकारी, एक प्रधान गणिका की

नियुक्ति की जाती थी जो सबसे रूपवती, सर्वगुण सम्पन्न, नृत्य संगीत आदि में पूर्णरूपेण निपुण हो ऐसी स्त्रियों को प्रधान गणिका के पद पर नियुक्त किया जाता था। उन प्रधान गणिकाओं के राज–परिवारों से वेतन के रूप में किंचित धनराशि प्रदान किया जाता था, जिसका उल्लेख इतिहास में स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है। देवआराधना से आरम्भ हुई यह प्रथा विभिन्न राजशाही व्यसनों से परिवर्तित हुई एवं यह प्रथा मुगल काल, ब्रिटिश काल आदि में इनकी पतन की सीमा का कोई माप ना रहा। ब्रिटिश शासक समस्त भारत पर शासन स्थापित करना चाहते थे। इस क्रम में समस्त भारतीय धार्मिक, सांस्कृतिक, पारम्परिक एवं अन्य क्रियाकलाप जो समस्त भारतीय समाज का प्रतिनिधित्व स्थापित करती है, वह शनैः–शनैः क्षीण होती गयी। देवदासी परम्परा राजशाही से निकलकर साधारण समाज में भिन्न–भिन्न पुरुषों द्वारा शोषित होती गई एवं एक समय में यह समाज में हीन भावना की दृष्टि से देखा जाने लगा। भौतिक धरातल पर उतरकर निम्न कोटि की वासना का माध्यम हो जाने के कारण साधारण समाज से विस्थापित होती गयी एवं नृत्य के प्रति भावना बदल गई। इस क्रियाकलाप से सम्पूर्ण भारतीय समाज पर अत्यन्त गहरा प्रभाव पड़ा। समस्त भारत के राज–शासक अंग्रेजो के अधीन होते गए एवं एक समय में भारतीय नृत्य कला, संगीत, साहित्य का स्थान अत्यधिक निचले स्तर पर आ चुका था। जिस प्रकार प्रसिद्ध इतिहासकारों ने उल्लेख किया है कि यदि किसी राष्ट्र अथवा देश को धराशाही करना है तो सर्वप्रथम उस राष्ट्र के मूल परम्परा, धर्म, संस्कृति, कला–साहित्य, नृत्य–संगीत आदि को खत्म करो और देखो वह राष्ट्र अपने आप धराशाही हो जायेगा, ठीक इसी कथन के अनुसार

भारत में राज करने के लिए अंग्रेजों ने सर्वप्रथम इसी पर आक्रमण किए, जिससे हमारी प्राचीन कला, साहित्य, संस्कृति, संगीत एवं नृत्य का पतन हुआ। अंग्रेज शासक हिन्दू धर्मावलम्बियों का धर्म परिवर्तन करते गए, ईश्वर में समर्पित देवदासियों का शनैः–शैनः सभ्य समाज, परिवार आदि देवदासी प्रथा के विरोधी हुए। सभ्य परिवार अपने संतानों को कला, साहित्य, संगीत एवं नृत्य से दूर रखने लगे, जिसके कारण यह प्रथा विलुप्त अवस्था की ओर अग्रसरित होने लगी। ऐसी स्थिति में कहीं न कहीं देवदासी परिवार अपने आप में दृढ़संकल्पित थी एवं कलामर्मज्ञ रहे, जिन्होंने समाज का परवाह ना करके किसी भी परिस्थिति में अपनी कला के प्रति मर्यादा का पालन करते हुए इस विशुद्ध नृत्य शैली का किसी न किसी प्रकार से संरक्षित एवं सवंर्द्धित करने के उद्देश्य से कुछ देवदासियाँ इस विषम परिस्थिति में भी अपनी मर्यादा कायम रखते हुए नृत्य शिक्षा को निरन्तरता देने की कोशिश करती रहीं।

परिवर्तनशील समाज में धीर–धीरे लगभग 19वीं शताब्दी के अन्तराल में इस विधा को पुर्नजन्म देने हेतु तंजौर के चार भाईयों का उदय हुआ। चिन्नैया, पोन्नैया, शिवानन्दन एवं वडीवेलू यह तंजौर भाईयों के नाम से भी प्रसिद्ध हुए, चूंकि इन चारों भाईयों ने बाल्यकाल से ही किसी न किसी परिस्थति में भी विधि–विधान से नृत्य की शिक्षा ग्रहण किए थे जो सरफोजी के राजदरबार में राजनर्तक के रूप में नियुक्त हुए। भगवतआराधना से आरम्भ हुआ विशुद्ध देवदासी नृत्य प्रथा का कालान्तर में अत्यन्त दयनीय स्थिति में देखकर इन चार–भाईयों ने इस नृत्य को पुर्नस्थापित करने का निर्णय लिया। कला मर्मज्ञ एवं नृत्य कला में पारंगत इन भाईयों ने इस

नृत्य का शिक्षण के साथ–साथ मंचीय प्रस्तुति का भी आयोजन करने लगे, जिसमें भक्तिपूर्णता के साथ–साथ आनन्दपूर्वक शब्द रचनाएँ भी होने लगी।

दासीअट्टम् अथवा सदिरअट्टम् नृत्य के संवाहक एवं पुर्नस्थापना करने में मुख्य भूमिका में रहे तंजौर भाईयों ने दासीअट्टम नृत्य को एक स्तम्भ रूपी आधार अड़वु एवं मार्गम् आदि की संरचना किए जो भविष्य में इस नृत्य के संरक्षणकर्ता को पूर्णरूप से सहयोग मिले। यह नृत्य भारत के अत्यन्त प्राचीन शास्त्र परम्परागत में से सर्वश्रेष्ठ माना गया है। यह नृत्य शैली प्राचीन काल में विविध नाम से प्रख्यात रहा परन्तु इस नृत्य का समस्त विश्व पटल पर विस्तृत करने में तंजौर भाईयों का निविर्वाद रूप से अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

तंजौर भाईयों द्वारा सादिरअट्टम नृत्य को पूर्ण रूप से व्यवस्थित करने के उद्देश्य से क्रमबद्ध मार्गम् की संरचना हुई जिसमें नृत्यारम्भ से लेकर अन्तिम चरण तक का व्यवस्थित प्रस्तुति मार्गम् हुआ। नृत्य चरणों के अन्तर्गत मार्गम् में अलारिपु, जतिस्वरम्, शब्दम्, वर्णम्, कीर्तनम् एवं तिल्लाना आदि जिसमें सम्पूर्ण शास्त्रयुक्त सम्मिलित है।

मुख्य रूप से इन भाईयों ने नृत्य प्रस्तुति के लिए तेलुगु, तमिल एवं अन्य संस्कृत भाषाओं में कई उच्च श्रेणी के ग्रन्थों की रचना किए। इस परम्परा को अग्रसरित करने के लिए उनके प्रमुख शिष्यों ने इस परम्परा को निरन्तरता देने का प्रयास किया है, जिसमें से मिनाक्षी सुन्दरम् पिल्लै, वलवुर रमैया, मूर्तिकुमार पिल्लै आदि कई विद्वान् हुए जो नृत्य परम्परा को येन–केन प्रकारेण संवर्धित करते गए। शनैः–शनैः यह नृत्य पुर्नगति को

प्राप्त करने लगा एवं विभिन्न विद्वान् गुरूओं का इसमें पदार्पण हुआ, जिनमें से श्री ई0 कृष्ण अय्यर, श्री रूक्मिणी देवी अरूण्डेल, अभिनय रानी बाल सरस्वती आदि महान गुरुजन गुणीजनों ने प्राचीनकाल में देवदासियों द्वारा अत्यन्त कुण्ठित एवं सम्पूर्ण समाज द्वारा त्याज्य इस नृत्य के धूमिल छवि को अपनी कला के प्रति मर्मज्ञ, कर्मनिष्ठता की भावनाओं से पुनः एक नया आयाम देने का कार्य किया, जो भारतीय समाज एवं संस्कृति एवं कला साहित्य जगत् के लिए एक अविस्मरणीय इतिहास के रूप में सम्पूर्ण कला प्रेमियों के हृदय में हमेशा–हमेशा के लिए एक अनमोल रत्न के समान विद्यमान है। जिस परम्परा से यह नृत्य का उदय हुआ था उस प्रथा की अंतिम देवदासियों में से एक महान नृत्यांगना बाला सरस्वती जी का नाम सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है। सदिरअट्टम् नृत्य परम्परा एवं इस विधा में इनका नाम सर्वोच्च रहा है। बाला सरस्वती एक कुशल नृत्यांगना, कुशल कला मर्मज्ञ, कुशल प्रशिक्षक के साथ–साथ एक कुशल अभिनयकर्ती भी रहीं। उनके अभिनय में इतनी मर्मज्ञता थी कि वह स्वयं उस शब्द रचनाओं के पात्र के रूप में स्थापित हो जाती थी एवं दर्शक भी उनके अभिनय में अपनी भावनाओं को पूर्ण रूप से समर्पित कर देते थे। ऐसी विलक्षण प्रतिभा होने के कारण इस क्षेत्र में पहली एवं अन्तिम ''अभिनय रानी'' की उपाधि प्राप्त करने वाली नृत्यांगना थी।[8]

बाला सरस्वती जी के नृत्य अभिनय में इतनी सादगी एवं सत्यता थी कि देवदासी प्रथा के होने के बावजूद सम्पूर्ण सभ्य समाज के हृदय में

[8] कला सौरभ, चतुर्थ अंक, खैरागढ़ 2012, पृ0सं0 101–102

स्थान प्राप्त था। समाज के विभिन्न वर्गों के जनमानस नृत्य अभिनय आदि आनन्दित होने के साथ–साथ पुनः ईश्वरीय शक्ति को महसूस करने लगे। इनके पश्चात् नृत्य परम्परा एवं इतिहास में यह भी उल्लेख प्राप्त होता है कि श्रीकृष्ण अय्यर जो दक्षिण भारत के प्रख्यात वकील रहे जिनको नृत्य में अत्यधिक रूचि रही, एक समय में ऐसा परिवर्तन हुआ कि उन्होंने अपनी वकालत को त्यागकर कला, साहित्य, नृत्य आदि का संरक्षण एवं संवर्धन हेुत नृत्य सीखना आरम्भ किया। इनका नृत्य के प्रति जुनून इतनी चरम सीमा पर था कि सम्पूर्ण समाज पर एक कौतूहल का विषय बनकर रह गया था। देवदासी परम्परा को ईश्वरी उपासना नृत्य कलान्तर में एक सम्पूर्ण समाज द्वारा बहिष्कृत होकर पुनर्गति को प्राप्त था एवं एक प्रसिद्ध वकील द्वारा अपनी वकालत को त्यागकर नृत्य प्रस्तृति करना एक प्रतिष्ठित समाज के पुरुषों के लिए नृत्य के प्रति एक वरदान साबित हुआ। इसके पश्चात् इस विषय में अविस्मरणीय नाम श्रीमती रूक्मिणी देवी अरूण्डेल का आता है जो भारतीय संस्कृति एवं समाज में उच्च कोटि की ब्राह्मण परिवार की कन्या होते हुए अपनी प्राचीन सभ्यता को दरकिनार करके नवीन विचारों के साथ अग्रसर होकर दासीअट्टम् नृत्य का पारम्परिक विधि–विधान से शिक्षा प्राप्त करके मंचीय प्रस्तुति भी की। ब्राह्मण परिवार में जन्मी सम्पूर्ण संस्कार से युक्त अत्यन्त रूपवती होने के कारण नृत्य अभिनय में वह सौन्दर्यपूर्ण रूप दिखायी दिया, जिसमें सम्पूर्ण समाज इनको सहज स्वीकार करके इस विधा को अग्रसरित करने के लिए उनके द्वारा अनुमति प्राप्त हुई। इतिहास के पन्नो में स्पष्ट रूप से उल्लेख प्राप्त होता है कि महान नृत्यकार श्री ई0 कृष्ण अय्यर एवं सुप्रसिद्ध नृत्यांगना श्रीमती रूक्मिणी

अरूण्डेल ने इस नृत्य को देवदासियों द्वारा एवं उस काल के राजशाही शासकों द्वारा शोषित सभ्य समाज द्वारा त्यजित इस नृत्य की छवि को हमेशा के लिए समाप्त करने के उद्देश्य से इस नृत्य को भरतनाट्यम् की संज्ञा दी जिसने वर्तमान काल में सम्पूर्ण विश्व में प्रसिद्धि प्राप्त की है।

भरतनाट्यम् नृत्य जैसे कि इस अध्याय के आरम्भ में ही इसकी व्याख्या दी गई है। यह नृत्य का प्रारम्भिक इतिहास एक विशुद्ध नृत्य अथवा ईश्वरीय शक्ति का स्वरूप माना जाता था, कलान्तर में यह नृत्य विविध संघर्षों के बावजूद सभ्य समाज में इसकी छवि पूर्णतः धूमिल सी हो गई थी, नृत्य में ऐसी कई क्रियाओं का समावेश हो गया था, जिसको प्रसिद्ध नृत्यांगना एवं कला मर्मज्ञ रूक्मिणी ने इसके स्वरूप में परिवर्तन करके कई नवीन प्रयोग किए। महान नर्तक नृत्यकार इस नृत्य प्रथा के जीर्णोद्धारकर्ता तंजौर भाईयों द्वारा रचित प्रसिद्ध अड़वुओं एवं मार्गम् द्वारा भविष्य में यह नृत्य शैली की प्रस्तुति और भी आसान हो जाए, इस उद्देश्य से इसे क्रमबद्ध निर्धारित किया। इस नृत्य के कई महत्वपूर्ण बिन्दुओं को ध्यान में रखते हुए एवं उसकी साधारण जनसमाज में अधिक से अधिक लोकप्रिय बनाने हेतु नृत्य प्रस्तुति, विभिन्न वाद्य यंत्रों का प्रयोग, नृत्यकर्ता अथवा नृत्यांगनाओं की वेशभूषा एवं रूपसज्जा पर भी अनेकों कार्य किए गए एवं कई परिवर्तन भी किए गए। कला, साहित्य, नृत्य से सम्बन्धित शास्त्रकृत ग्रन्थों जैसे नाट्यशास्त्र, अभिनयदर्पण, संगीतरत्नाकर आदि ग्रन्थों का पूर्णरूपेण अध्ययन करके इसका शास्त्रगत प्रयोग किया, जिससे इस नृत्य में और भी सुन्दरता और उत्कृष्टता दिखाई देने लगा।

इस प्रकार भरतनाट्यम् नृत्य अपने प्रारम्भिक समय से लेकर आधुनिक काल तक की परम्परा में भिन्न–भिन्न प्रकार के उतार–चढ़ाव होते हुए यह पुनः भारतीय कला जगत् में प्रतिष्ठित हुआ। भरतनाट्यम् नृत्य वर्तमानकाल में पूर्ण रूप से शास्त्रीयता के पक्ष में सर्वश्रेष्ठ स्थान पर विद्यमान है एवं देश–विदेश में विभिन्न कलाकार इसके प्रचार–प्रसार के लिए संलग्न हैं।

2- HkjrukV; uR; 'kyh e ckfu;k ¼?kjkuk½ %&

कला अथवा संगीत की तीनों विधाओं में बानियाँ (घरान) की अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। घराने का तात्पर्य किसी परिवार, सम्प्रदाय, वंश परम्परा एवं किसी गुरु परम्परा से होता है, जो उस परिवार में प्रचलित रीति, परम्परा एवं विशिष्टता उस परिवार के सदस्यों द्वारा पीढ़ी दर पीढ़ी विकसित होती है, अतः यही परम्परा घराना अथवा बानियाँ कहलाती हैं।[9]

समस्त भारत के कला जगत् में प्रचलित उत्तर भारतीय एवं दक्षिण भारतीय संगीत पद्धतियों के घराने को भिन्न–भिन्न नाम से जाना जाता है। उत्तर भारतीय संगीत पद्धति घराना कहा जाता है एवं दक्षिण भारतीय पद्धति में 'सम्प्रदाय' की संज्ञा दी गई। इसी के अन्तर्गत भरतनाट्यम् नृत्य शैली के घराने बानी के नाम से जाने जाते हैं। घराना अथवा बानी का मूलभूत उद्देश्य उस गुरू परम्परा की सम्पूर्ण विशेषताएँ शिष्य पूर्ण रूप से

[9] त्रिपाठी शिवेन्द्र प्रताप, शोध प्रबन्ध, इन्दिरा कला संस्थान विश्वविद्यालय, खैरागढ़, पृ0सं0 21

अपने में आत्मसात करें यही घरानेदार अथवा बानी का मुख्य आधार रहा है।

इतिहास में उल्लेख सम्पूर्ण मतों से यही ज्ञात होता है कि भरतनाट्यम् नृत्य शैली में बानियों का जन्म भिन्न–भिन्न प्रकार के अड़वुओं के प्रदर्शन करने से हुआ है, जो विभिन्न परम्परा एवं विद्वानों की स्वयं निर्मित शैलियाँ एवं विशेषताएँ एक–दूसरे से भिन्न होने के कारण ही आरम्भ हुए। बानियों की मुख्य आधारशिला पंदनलूर सूर्य मूर्ति मिनाक्षीसुन्दरम् पिल्लै ने रखी थी जिसकी परम्परा आधुनिकाल में मुख्य रूप से पांच प्रकार की बानियाँ मानी जाती हैं–

1. तंजौर बानी – चिन्नैया, पौन्नैया, शिवानन्दम् एवं वड़ीवेलु
2. मैसूर बानी– राजा कृष्णराज वड़ियार
3. पदन्नूर बानी – श्री मिनाक्षीसुन्दरम् पिल्लै
4. वलवूर बानी–वलवूर रमैया पिल्लै
5. कलाक्षेत्र बानी – श्रीमती रूक्मिणी देवी अरूण्डेल

¼i½ *r| t kj ckuh %&*

दक्षिण भारत के तमिलनाडु के पूर्वीय तट पर स्थित तंजौर का सम्बन्ध अत्यन्त प्राचीन, ऐतिहासिक एवं समस्त कला साहित्य, संगीत और नृत्य से सम्बन्धित रहा है। तंजउर/तंजौर मुख्य रूप से शाही शासकों के राज्य के रूप में प्राप्त था। यहाँ से प्रसिद्ध नट्टुवनार सुव्वईया पिल्लै के चार पुत्र रत्न चेन्नैया, पोन्नैया, शिवानन्द एवं वड़ीवेलू रहे। इसी स्थान पर सभ्य

समाज में धूमिल हो चुकी नृत्यशैली को पुनः आकार देकर इतिहास के पन्नों में स्वर्ण अक्षरों से अंकित की है। महान कला मर्मज्ञ तंजौर के राजा सरफोजी द्वितीय के राज दरबार से संरक्षित एवं संवर्धित होकर समस्त जगत में इस कला की उन्नति हुई। तंजौर बानी अथवा घराने के प्रसिद्ध इन चार भाइयों द्वारा भरतनाट्यम् शैली के मार्गम् की रचना हुई। इन्होंने इस नृत्य शैली को पूर्ण रूप से शास्त्रबद्ध किया। विभिन्न मार्गम् के साथ–साथ अड़वुओं की रचना करके उनके विविध विधियों का प्रचार–प्रसार किया। ऐतिहासिक पक्ष के अनुसार प्रायः यह उल्लेख मिलता है कि सबसे प्राचीन एवं अन्य समस्त बानियों का जनक तंजौर घराने को माना जाता है, जो शास्त्रों के साथ–साथ शास्त्रीय पक्ष को भी प्रचलित करने में इनका अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इन्होंने नृत्य के विविध पक्ष जैसे अभिनय, आड़वुओं का विस्तार नृत्य प्रस्तुति के अन्तर्गत अंग संचालन, वेश–भूषा, श्रृंगार पक्ष एवं नाट्यशास्त्र में उल्लेख विविध करणों का नृत्य अभिनय एवं प्रस्तुति में स्पष्ट रूप से प्रयोग किया है। इसके साथ–साथ इस परम्परा को पूर्ण रूप से संरक्षण एवं संवर्द्धन हेतु भविष्य में आने वाले पीढ़ी के लिए सरल एवं सहज लय में विभिन्न रचनाओं का निर्माण किया, इसके साथ–साथ भरतनाट्यम् नृत्य शैली अधिक से अधिक प्रचार–प्रसार हो इस उद्देश्य से विभिन्न क्षेत्रों में नृत्य प्रशिक्षण केन्द्र के साथ–साथ आधिकारिक रूप से प्राथमिक विद्यालयों में भी इसका अध्ययन–अध्यापन आरम्भ किया गया। भरतनाट्यम् नृत्य शैली उस समय से लेकर आधुनिक काल एवं निरन्तरता प्राप्त होने का श्रेय तंजौर बानी को जाता है।

¼ii½ e\l\j ckuh %&

भारतनाट्यम् नृत्य शैली के चार प्रमुख बानी/घरानों से मैसूर बानी द्वितीय स्थान में मानी जाती है। मैसूरी क्षेत्र के अधिपति विभिन्न राजाओं के राजमहलों में विविध कलाओं का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। इतिहास में प्राप्त उल्लेख के अनुसार मैसूर के राजमहलों में रहने वाली नृत्यांगनाओं को मुख्य रूप से नृत्य एवं नाट्य की शिक्षा प्राप्त करने का नियम था। मैसूर के महान राजा कृष्णराजा वोडयार तृतीय के शासनकाल में मुख्यतः भारतनाट्यम् नृत्य शैली की प्रगति पथ माना जाता है। महाराज कृष्णराजा एक कुशल राजा होने के साथ–साथ साहित्य, कला, संगीत एवं नृत्य के अत्यन्त प्रेमी व्यक्ति थे। इसी कारण उन्होंने तंजौर घराने के मुख्य वाहक चार भाइयों में से एक चेन्नैया को अपने दरबार में आमंत्रित करके कई वर्षों तक नृत्य शिक्षा का विस्तार किया। महान नृत्यकार चेन्नैया ने नृत्य शिक्षा के साथ–साथ अनेक कृति की रचना की एवं उसका प्रचार–प्रसार किया। महाराज कृष्णराजा वोड़यार चूंकि संस्कृत साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् थे शायद इसी कारण नायक चेन्नैया द्वारा रचित विविध वर्णम् एवं तिल्लाना कन्नड़, तमिल भाषा के साथ–साथ अत्यधिक संस्कृत भाषा में भी कई रचनाओं का उल्लेख प्राप्त होता है।[10]

मैसूर बानी में मुख्य रूप से नृत्त, नृत्य में अभिनय पक्ष को विशेष महत्व दिया जाता था। नृत्य प्रस्तुति के समय अभिनय मंच पर बैठकर भी प्रदर्शित करने की प्रथा थी। इस शैली में मन्दिर एवं राजमहलों का

[10] डॉ0 पुरू दाधीच–भरतनाट्यम् शिक्षा, प्रथम भाग, पृ0सं0 7–8

अर्न्तसम्बन्ध स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका रही है। मैसूर बानी को परम्परागत रूप में अग्रसरित करने में ऐसी कई महान गुरुओं का योगदान रहा है, जिसमें जेती तैयम्मा, के0 वेंकटलक्ष्म्मा, रामगोपाल, मृणालिनी साराभाई, लीला रामनाथन आदि का नाम इतिहास के पन्नों में स्वर्ण अक्षरों से अंकित है।[11]

¼iii½ *inuyj ckuh ;k 'kyh %&*

भारतनाट्यम् नृत्य शैली के पारम्परिक बानियों के अन्तर्गत पंदनलुर बानी का सम्बन्ध दक्षिण भारत में स्थित कुंभकोणम् शहर से कुछ मील दूर पंदनलुर गाँव से है, उसी गाँव में नृत्यकला जगत् के महान प्रणेता का जन्म स्थान के रूप में माना जाता है। इनके पिताजी श्री सूर्यमूर्ति उस समय काल के अत्यन्त प्रसिद्ध संगीतकार, नटुवनार एवं नृत्य शिक्षक थे एवं इनकी माता तंजौर भाईयों में से पौन्नैया की पुत्री थी। उनके विरासत में भी संगीत होने के कारण उन्होंने नृत्य शिक्षा का आरम्भ बाल्यकाल से ही किया था। मिनाक्षी सुन्दरम पिल्लै कालान्तर में एक प्रख्यात विद्वान्, नृत्यकार के साथ–साथ शास्त्र के क्रियात्मक पक्ष में भी अच्छी पकड़ रखते थे। कला साधक मर्मज्ञ एवं कला प्रेमी होने के कारण वे स्वभाव से अत्यन्त उदार प्रवृत्ति के थे। उनके नृत्य में सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि उन्होंने अपने नृत्य में विभिन्न आड़वु की प्रधानता रखते थे, जिसके कारण अंगों के संचालन में कहीं भी शिथिलता का प्रवेश नहीं होता था। नृत्य प्रस्तुति के साथ–साथ शिक्षण कार्य में भी इनके प्रमुख सहयोगी, अरूणाचल

11 Sunil Kothari - Bharatnatyam Indian Classical Dance Art, Pg. 120-121

हैं इनकी नृत्य शैली में अंगशुद्धि में पूर्ण स्वरूपों से स्पष्टता थी, जो यही शैली कालान्तर में पंदनलुर बानी के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह शैली अंग संचालन, अत्यन्त जटिल नृत्य संरचनाएँ, अत्यन्त धीमी लय में पदम् का लास्य भेद एवं इनकी जतिस्वरम् की रूपरेखा अन्य से भिन्न होते हैं। पंदनलुर शैली के परम्परा को अग्रसरित करने वाले प्रमुख विद्वान् सहपाठियों में से जयलक्ष्मी, लीलारामनाथन, तारा चौधरी, रूक्मिणी देवी अरूण्डेल आदि का मुख्य रूप से उल्लेख प्राप्त होता है। आधुनिक काल में अलारमेलवेली, मिनाक्षी चितरंजन आदि इस परम्परा को अग्रसरित कर रहे हैं।

¼iv½ *oyo: ckuh & oyoj je;k fiYy %&*

मुख्य रूप से वलवुर बानी का आरम्भ रमैया पिल्लै द्वारा हुआ है। रमैया पिल्लै एक ऐसे परिवार से थे जिन्हें नाट्य कला एवं नृत्य कला विरासत में मिली थी, जो दक्षिण भारत के छोटे से गाँव वलवुर/वुजुवर के नाम से प्रसिद्ध हुआ एवं यह बानी का भी उसी गाँव के नाम से नामकरण हुआ। उस काल में मुख्यतः यही देखने को मिलता है जो नृत्यकार अथवा कला साहित्य से प्रसिद्ध हुआ एवं अन्य कलाकारों से आपेक्षित कुछ नवीन कार्य किया वह उसी गाँव/स्थान के नाम से एक बानी/घराना की प्रथा का आरम्भ हुआ, चाहे तंजौर बानी हो अथवा मैसूर बानी। इतिहास के अनुसार इस परिवार के गुरुओं ने चोल शासनकाल में उनके राजकुल की राजकुमारियों को भारतनाट्यम् नृत्य कला की शिक्षा प्रदान की थी। कालान्तर में इनके वंशज एवं शिष्य दक्षिण भारत के विभिन्न क्षेत्रों में इस

परम्परा को निःस्वार्थ भाव से प्रचार–प्रसार करने लगे। इस बानी का अग्रज एवं मुख्य स्तम्भ के रूप में वलवुर वीरप्पा जो कि एक नटुवनार के रूप में प्रख्यात थे एवं इस गांव में विद्यमान प्रसिद्ध मन्दिर ज्ञानसबेसा में अंकित नृत्यरत मूर्तिकला में प्रमाण प्राप्त होता है। वुजूवर बानी को मुख्य रूप से विश्व प्रसिद्ध बनाने में मुख्य रूप से रमैया पिल्लै को श्रेय जाता है। इस बानी में भारतनाट्यम् नृत्य शैली की अन्य पद्धतियों के समान लघु, पद, कविता, कीर्तन के साथ–साथ अंग शुद्धि, हस्त–पाद संचालन की गति इत्यादि विशेष रूप में प्रसिद्ध रही है। रमैया पिल्लै ने इस घराने को अन्य घरानों से अलग एवं महत्वपूर्ण स्वरूप देने के लिए कला के भिन्न स्वभाविक सौन्दर्य, महत्वपूर्ण गति व मुद्राओं पर आधारित विषयवस्तु, तालों के विभिन्न प्रकार जो कि मुख्य रूप से तिल्लाना में प्रयोग होता है, अभिनय में अत्यन्त सूक्ष्मता, विभिन्न जाति में कोरवे का स्वरूप जो कि अत्यन्त आश्चर्यजनक स्वभाव उत्पन्न करता है, आदि कार्य मुख्य रूप से महत्वपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त रमैया पिल्लै ने नटुवनारों एवं संगीतकारों को प्रस्तुति के दौरान मंच पर बैठने के लिए एक निश्चित स्थान का व्यवस्थापन आरम्भ किया जिसका आज भी कलाकार अनुसरण करते हैं।[12] रमैया पिल्लै के प्रमुख शिष्यों में से कमला लक्ष्मण, के0जे0 सरसा पद्मिनी, वैजयन्ती माला, पद्मा सुब्रह्मण्यम आदि प्रसिद्ध नृत्यांगनाएं, कलामर्मज्ञ इस घराने के नृत्य को पीढ़ी दर पीढी अग्रसरित करने में अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित किया है, जिसके माध्मय से यह नृत्य शैली सम्पूर्ण जगत् में प्रसिद्ध हुई।

[12] Sanmukh, Vol. 36, No. 4, October-December 2010, Pg. 13.

¼v½ dyk{k= 'kyh@ckuh&Jherh :fDe.kh nsoh v:.Mky %&

कलाक्षेत्र शैली की आधारशिला प्रसिद्ध नृत्यांगना एवं शोधार्थी श्रीमती रूक्मिणी देवी अरूण्डेल द्वारा सन् 1936 में कलाक्षेत्र के नाम से स्थापित हुआ था। बाल्यकाल से ही नृत्यकला में लगाव रखने वाली रूक्मिणी देवी अरूण्डेल ने बैले नृत्य का प्रशिक्षण लिया था, परन्तु कालान्तर में भारत भ्रमण के दौरान उनकी मुलाकात प्रसिद्ध नृत्यांगना अन्ना पावलोवा से हुई एवं नृत्य कला से सम्बन्धित चर्चा–परिचर्चा के दौरान अन्ना पावलोवा ने ही उनको भारतीय नृत्य कला के क्षेत्र में कार्य करने की प्रेरणा दी। इसके उपरान्त उन्होंने नृत्य कला के क्षेत्र में अत्यन्त गहराईयों से कार्य करने एवं इसकी उज्जवल भविष्य का निर्माण करने के उद्देश्य से विभिन्न नृत्य शैलियों की प्रस्तुति एवं उनके कार्य में रूचि रखने लगी। इसमें सबसे प्रभावित पंदनलुर शैली से हुई एवं नृत्य की शिक्षा प्राप्ति हेतु प्रसिद्ध गुरू मिनाक्षी सुन्दरम् पिल्लै जी से पंदनलुर शैली में नृत्य की शिक्षा प्राप्त की। शनैः–शनैः नृत्य के क्षेत्र में कार्य को और भी मजबूती देने के उद्देश्य से कलाक्षेत्र संस्था की स्थापना की गयी एवं स्वयं को शिक्षित करने एवं अन्य नृत्य प्रशिक्षु को और भी निखार लाने के उद्देश्य से नृत्य कला क्षेत्र के महान गुरुओं जैसे–मिनाक्षीसुन्दरम् पिल्लै, चोकलिंगम् पिल्लै आदि गुरूओं ने इस कलाक्षेत्र में अपना अभिन्न योगदान दिया।

विभिन्न विद्वानों के साक्षात्कार से प्राप्त उल्लेखों के अनुसार कला क्षेत्र शैली पंदनलुर बानी सरलकृत नृत्य शैली है, जो भविष्य में आने वाली पीढ़ियों के लिए एक रोचक एवं सरल नृत्य के रूप में प्रसिद्ध है। इस शैली

की प्रमुख विशेषताओं में से नृत्य प्रस्तुति में शारीरिक भाव–भंगिमाओं पर विशेष कार्य, नृत्य अभिनय एवं हस्त–पाद मुद्राओं पर कार्य, विभिन्न लयकारी में नृत्य प्रस्तुति एवं विविध प्रकार के शोध से दोषरहित पूर्ण रूप से सौन्दर्यात्मक आदि विशेष रूप से महत्वता दी गयी है। वर्तमान काल में भारतनाट्यम् नृत्य शैली का मुख्य शिक्षा संस्था एवं पूर्णरूपेण गुरुकुल पद्धति से संचालित इस संस्था में प्रत्येक नृत्यकला प्रेमी शिक्षण प्राप्त करना अपना सौभाग्य समझते हैं। यह संस्था आधुनिक काल में सम्पूर्ण विश्व में प्रसिद्ध है एवं देश–विदेशों में इस संस्था से शिक्षा प्राप्त करके भारतनाट्यम् नृत्य शैली को भिन्न–भिन्न प्रकार से प्रचार–प्रसार करने में अग्रसरित है।

उपरिलिखित बानियों के अतिरिक्त अन्य बानियों का भी जन्म हुआ परन्तु कालान्तर में किसी न किसी कारण वश उसकी परम्परा एवं प्रसिद्धि नहीं हो सकी। मुख्य रूप से बानी/घराना का प्रचलन तंजौर से आरम्भ हुआ एवं उनके ही वंशज, शिष्य परम्परा आदि द्वारा एक स्थान से अन्य स्थान में शिक्षण–प्रशिक्षण आरम्भ होने लगा एवं अन्य शैलियों में किंचिद् विभिन्नता करके एवं मुख्य विशेषताओं का समावेश करके एक नवीन बानी/घराने की स्थापना की गई, ऐसा प्रतीत होता है। जिस प्रकार नृत्यकला एक देवदासी के रूप में विशुद्ध भगवत आराधना के रूप से आरम्भ हुआ एवं कालान्तर में विभिन्न राजा–महाराजाओं द्वारा शोषित होकर धराशाही हुआ एवं मुगलकाल में इस नृत्य शैली का अस्तित्व समाप्त हो चुका था परन्तु कालान्तर में पुनः स्थापित होकर इस नृत्य को विभिन्न कला मर्मज्ञ, कला प्रेमी आदि द्वारा पुनर्जीवन प्राप्त हुआ। जब पुनः आरम्भ हुआ उसके उपरान्त प्रत्येक व्यक्ति विशेष इस नृत्य की शिक्षा प्राप्त करके

इसका अधिक से अधिक प्रचार–प्रसार में संलग्न हुए। उन सभी कला प्रेमी एवं विद्वान् महापुरुषों के अमूल्य योगदान से आज यह नृत्य पुनः विश्वव्यापी होने में सफल हुआ। भारतनाट्यम् नृत्य को आधुनिक काल में एक विशुद्ध शास्त्रीय नृत्य के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त है।